

सोऽस्माकं केवलज्ञानी स्वर्गमोक्षसुखप्रदः। पूजितो वन्दितो नित्यं भूयात्सत्केवलश्रिये ॥६४॥
यथाऽनेन मुनीन्द्रेण चारित्रोद्योतनं कृतम्। तथा न्येन सुभव्येन कर्तव्यं तद्धि शर्मदम् ॥६५॥
गच्छे श्रीमति मूलसङ्घतिलके श्रीशारदायाः शुभे। श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुश्चारित्रचूडामणिः।
तच्छिष्यो गुणरत्नरञ्जितमतिर्नित्यं सतां सद्गतिर्भूयान्मे भवतारको वरमुदे श्रीसिंहनन्दी मुनिः ॥६६॥

इति चारित्रोद्योतिनी श्रीसनत्कुमारचक्रवर्तिनः कथा समाप्ता।

४. श्रीसमन्तभद्रस्वामिनः कथा

नत्वा जिनं जगत्पूज्यं द्योतने दृष्टिबोधयोः। श्रीमत्समन्तभद्रस्य चरित्रं रचयाम्यहम् ॥१॥
इहैव दक्षिणस्थायां काञ्च्यां पुर्यां परात्मवित्। मुनिः समन्तभद्राख्यो विख्यातो भुवनत्रये ॥२॥
तर्कव्याकरणोत्कृष्टच्छन्दोऽलङ्कारकादिभिः। अनेकशास्त्रसन्दोहैर्मण्डितो बुधसत्तमः ॥३॥
दुर्द्धरानेकचारित्ररत्नरत्नाकरो महान्। यावदास्ते सुखं धीरस्तावत्तत्कायकेऽभवत् ॥४॥
असद्वेद्यमहाकर्मोदयाद् दुर्दुःखदायिनः। तीव्रकष्टप्रदः कष्टं भस्मकव्याधिसंज्ञकः ॥५॥

उन स्वर्ग और मोक्ष-सुख देने वाले श्रीसनत्कुमार केवली की हम भक्ति और पूजन करते हैं, उन्हें नमस्कार करते हैं। वे हमें भी केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी प्रदान करें ॥६४॥

जिस प्रकार सनत्कुमार मुनिराज ने सम्यक्चारित्र का उद्योत किया उसी तरह सब भव्य पुरुषों को भी करना उचित है। वह सुख का देने वाला है ॥६५॥

श्रीमूलसंघ सरस्वतीगच्छ में चारित्रचूडामणि श्रीमल्लिभूषण भट्टारक हुए। सिंहनन्दी मुनि उनके प्रधान शिष्यों में थे। वे बड़े गुणी थे और सत्पुरुषों को आत्मकल्याण का मार्ग बतलाते थे। वे मुझे भी संसार समुद्र से पार करें ॥६६॥

४. समन्तभद्राचार्य की कथा

संसार के द्वारा पूज्य और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान का उद्योत करने वाले श्री जिन भगवान् को नमस्कार कर श्री समन्तभद्राचार्य की पवित्र कथा लिखता हूँ, जो कि सम्यक्चारित्र की प्रकाशक है ॥१॥

भगवान् समन्तभद्र का पवित्र जन्म दक्षिणप्रान्त के अन्तर्गत कांची नाम की नगरी में हुआ था। वे बड़े तत्त्वज्ञानी और न्याय, व्याकरण, साहित्य आदि विषयों के भी बड़े भारी विद्वान् थे। संसार में उनकी बहुत ख्याति थी। वे कठिन से कठिन चारित्र का पालन करते, दुस्सह तप तपते और बड़े आनन्द से अपना समय आत्मानुभव, पठन-पाठन, ग्रन्थरचना आदि में व्यतीत करते ॥२-४॥

कर्मों का प्रभाव दुर्निवार है। उसके लिए राजा हो या रंक हो, धनी हो या निर्धन हो, विद्वान् हो या मूर्ख हो, साधु हो या गृहस्थ हो सब समान हैं, सबको अपने-अपने कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। भगवान् समन्तभद्र के लिए भी एक ऐसा ही कष्ट का समय आया। वे बड़े भारी तपस्वी थे, विद्वान् थे, पर कर्मों ने इन बातों की कुछ परवाह न कर उन्हें अपने चक्र में फँसाया। असातावेदनीय के तीव्र

तेन सम्पीडितश्चित्ते चिन्तयत्यैवमञ्जसा। व्याधिनानेन सन्तप्ता विद्वान्सोपि वयं भुवि ॥६॥
दर्शनस्योपकाराय जाता नैव समर्थकाः। अतस्तद्व्याधिनाशाय विधिः कश्चिद्विधीयते ॥७॥
स विधिस्तु भवेन्नाना पक्वान्नाहारसञ्चयैः। अन्यैः स्निग्धतरैरनैस्तदुःखौघप्रशान्तिदः ॥८॥
तदाहारस्य सम्प्राप्तेरभावाद्द्रव्यं साम्प्रतम्। यस्मिन्देहे यथास्थाने येन लिङ्गेन सम्भवेत् ॥९॥
तथाहारपरिप्राप्तिराश्रयं तं व्रजाम्यहम्। विचार्येति परित्यज्य पुरीं काञ्चीं स संयमी ॥१०॥
उत्तराभिमुखो गच्छन्पुण्ड्रेन्दुनगरे गतः। तत्र वन्दकलोकानां स्थाने च महतीं मुदा ॥११॥
दानशालां समालोक्य भस्मकव्याधिसङ्क्षयः। भविष्यत्यत्र संचित्य धृतवान्बौद्धलिङ्गकम् ॥१२॥
तत्रापि तन्महाव्याधिशान्तिदाहारदुर्विधात्। स निर्गत्य पुनस्तस्मादुत्तरापथसम्मुखः ॥१३॥
पर्यटन्नगराण्युच्चैरनेकानि क्षुधाहतः। सम्प्राप्तः कतिभिर्घस्त्रैः पुरं दशपुराभिधम् ॥१४॥
तत्र दृष्ट्वा तथा भागवतानाम् मठमुन्नतम्। तल्लिङ्गिभिः समाकीर्णं काककीर्णं वनं यथा ॥१५॥
तद्भाक्तिकैः सदा दत्तविशिष्टाहारसञ्चयम्। त्यक्त्वा वन्दकलिङ्गं च धृत्वा भागवतं हि तत् ॥१६॥
तत्रैवं भस्मकव्याधिविनाशाहारहानितः। ततो निर्गत्य नानोरुदिग्देशादींश्च पर्यटन् ॥१७॥

उदय से भस्मक व्याधि नाम का एक भयंकर रोग उन्हें हो गया। उससे वे जो कुछ खाते वह उसी समय भस्म हो जाता और भूख वैसी की वैसी बनी रहती। उन्हें इस बात का बड़ा कष्ट हुआ कि हम विद्वान् हुए और पवित्र जिनशासन का संसार भर में प्रचार करने के लिए समर्थ भी हुए तब भी उसका कुछ उपकार नहीं कर पाते। इस रोग ने असमय में बड़ा कष्ट पहुँचाया। अस्तु। अब कोई ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे इसकी शान्ति हो। अच्छे-अच्छे स्निग्ध, सच्चिकण और पौष्टिक पक्वान का आहार करने से इसकी शान्ति हो सकेगी; इसलिए ऐसे भोजन का योग मिलाना चाहिए, पर यहाँ तो इसका कोई साधन नहीं दीख पड़ता। इसलिए जिस जगह, जिस तरह ऐसे भोजन की प्राप्ति हो सकेगी मैं वहीं जाऊँगा और वैसा ही उपाय करूँगा ॥५-१०॥

यह विचार कर वे कांची से निकले और उत्तर की ओर रवाना हुए। कुछ दिनों तक चलकर वे पुण्ड्र नगर में आए। वहाँ बौद्धों की एक बड़ी भारी दानशाला थी। उसे देखकर आचार्य ने सोचा, यह स्थान अच्छा है। यहाँ अपना रोग नष्ट हो सकेगा ॥११-१२॥

इस विचार के साथ ही उन्होंने बौद्ध साधु का वेष बनाकर वहाँ रहे, परन्तु योग्य भोजन नहीं मिला। इसलिए वे फिर उत्तर की ओर आगे बढ़े और अनेक शहरों में घूमते हुए कुछ दिनों के बाद दशपुर-मन्दोसोर में आए। वहाँ उन्होंने भागवत-वैष्णवों का एक बड़ा भारी मठ देखा। उसमें बहुत से भागवत सम्प्रदाय के साधु रहते थे। उनके भक्त लोग उन्हें खूब अच्छा-अच्छा भोजन देते थे। यह देखकर उन्होंने बौद्धवेष को छोड़कर भागवत साधु का वेष ग्रहण कर लिया। वहाँ वे कुछ दिनों तक रहे, फिर उनकी व्याधि के योग्य उन्हें वहाँ भी भोजन नहीं मिला। तब वे वहाँ से भी निकलकर और अनेक देशों और पर्वतों में घूमते हुए बनारस आए। उन्होंने यद्यपि बाह्य में जैनमुनियों के वेष को

अन्तः स्फुरितसम्यक्त्वो बहिव्याप्तकुलिङ्गकः। शोभितोऽसौ महाकान्तिः कर्दमाक्तो मणिर्यथा ॥१८॥
 वाराणसीं ततः प्राप्तः कुलघोषैः समन्विताम्। योगिलिङ्गं तथा तत्र गृहीत्वा पर्यटन्युरे ॥१९॥
 स योगी लीलया तत्र शिवकोटिमहीभुजा। कारितं शिवदेवोरुप्रासादं सम्विलोक्य च ॥२०॥
 दृष्टाष्टादशसद्भक्षसमूहैश्चारुकैर्युतम्। अत्रास्मदीयदुर्व्याधिशान्तिता सम्भविष्यति ॥२१॥
 यावदेवं विचार्योच्चैः संस्थितस्तावदेव च। कृत्वा देवस्य तैः पूजां भाक्तिकैर्भक्षभेदकैः ॥२२॥
 बहिर्निक्षिप्यमाणं च दृष्ट्वा नैवेद्यकं महत्। अहो किमत्र कस्यापि सामर्थ्यं नास्ति सोऽवदत् ॥२३॥
 यः कोपि देवमत्रेममवतार्य सुभक्तितः। राज्ञा सम्प्रेषितं दिव्यमाहारं भोजयत्यलम् ॥२४॥
 इत्याकर्ण्य जगुस्तेपि किं सामर्थ्यं तवास्ति च। भक्षं भोजयितुं देवमवतार्य यतो भवान् ॥२५॥
 वदत्येवं तदाकर्ण्य स जगौ मेस्ति तद्ध्रुवम्। ततस्तत्र स्थितैर्लोकैः शीघ्रं राज्ञे निवेदितम् ॥२६॥
 योगिनैकेन देवात्र समागत्य महाद्भुतम्। त्वदीयदेवसत्पूजाविसर्जनविधौ प्रभो ॥२७॥
 बहिर्निक्षिप्यमाणं च नैवेद्यं संविलोक्य तत्। प्रोक्तमत्रावतार्यांशु देवं दिव्याशनं महत् ॥२८॥
 भोजयामीति तच्छ्रुत्वा शिवकोटिमहीपतिः। सज्जातकौतुको दिव्यं नानाहारं घृतादिभिः ॥२९॥

छोड़कर कुलिंग धारण कर रखा था, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनके हृदय में सम्यग्दर्शन की पवित्र ज्योति जगमगा रही थी। इस वेष में वे ठीक ऐसे जान पड़ते थे, मानों कीचड़ से भरा हुआ कान्तिमान् रत्न हो। इसके बाद आचार्य योगलिंग धारण कर शहर में घूमने लगे ॥१३-१९॥

उस समय बनारस के राजा थे शिवकोटि। वे शिव के बड़े भक्त थे। उन्होंने शिव का एक विशाल मन्दिर बनवाया था। वह बहुत सुन्दर था। उसमें प्रतिदिन अनेक प्रकार के व्यंजन शिव को भेंट चढ़ा करते थे। आचार्य ने देखकर सोचा कि यदि किसी तरह अपनी इस मन्दिर में कुछ दिनों के लिए स्थिति हो जाये, तो निस्सन्देह अपना रोग शान्त हो सकता है। यह विचार वे कर ही रहे कि इतने में पुजारी लोग महादेव की पूजा करके बाहर आए और उन्होंने एक बड़ी भारी व्यंजनों की राशि, जो कि शिव को भेंट चढ़ाई गई थी, लाकर बाहर रख दी। उसे देखकर आचार्य ने कहा, क्या आप लोगों में ऐसी किसी की शक्ति नहीं जो महाराज के भेजे हुए इस दिव्य भोजन को शिव की पूजा के बाद शिव को ही खिला सकें? तब उन ब्राह्मणों ने कहा, तो क्या आप अपने में इस भोजन को शिव को खिलाने की शक्ति रखते हैं? आचार्य ने कहा—हाँ मुझमें ऐसी शक्ति है। सुनकर उन बेचारों को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने उसी समय जाकर यह हाल राजा से कहा—प्रभो! आज एक योगी आया है। उसकी बातें बड़ी विलक्षण हैं। हमने महादेव की पूजा करके उनके लिए चढ़ाया हुआ नैवेद्य बाहर लाकर रखा, उसे देखकर वह योगी बोला कि—“आश्चर्य है, आप लोग इस महादिव्य भोजन को पूजन के बाद महादेव को न खिलाकर पीछे उठा ले आते हो! भला ऐसी पूजा से कैसा लाभ? उसने साथ ही यह भी कहा कि मुझमें ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा यह सब भोजन मैं महादेव को खिला सकता हूँ। यह कितने खेद की बात है कि जिसके लिए इतना आयोजन किया जाता है, इतना खर्च उठाया जाता है, वह यों ही

प्रचुरेश्वरसैर्दुग्धदध्यादिकसमन्वितैः। पूर्णैः कुम्भशतैर्युक्तं सत्प्रपैर्वटकादिभिः ॥३०॥
 समादाय समागत्य तत्रैवं संजगाद सः। भोजयन्तु भवन्तस्तु देवं भो योगिनोऽशनम् ॥३१॥
 एवं करोमि तेनोक्त्वा सर्वं तद्भोज्यसञ्चयम्। प्रासादान्तः प्रविश्योच्चैः सर्वान्निष्कास्य तान्बहिः ॥३२॥
 द्वारं दत्वा स्वयं भुक्त्वा कपाटयुगलं पुनः। समुद्घाट्य ततः प्रोक्तं भाजनानि बहिस्तराम् ॥३३॥
 निस्सार्यतां ततो जाते महाश्चर्ये स भूपतिः। नित्यं नैवेद्यसन्दोहं कारयित्वोत्तरोत्तरम् ॥३४॥
 प्रेषयामास सद्भक्त्या षण्मासेषु गतेषु च। संजाते भस्मकव्याधिप्रक्षये तस्य योगिनः ॥३५॥
 आहारे प्रकृतिं प्राप्ते शरीरे शान्तितामिते। समस्तभक्षसन्दोहं दृष्ट्वा चोद्धरितं जगुः ॥३६॥
 ततस्तत्र स्थिता लोकाः किं भो योगीन्द्र साम्प्रतम्। तथैवोद्धियते सर्वो नाना भक्षसमुच्चयः ॥३७॥

रह जाये और दूसरे ही उससे लाभ उठावें? यह ठीक नहीं। इसके लिए कुछ प्रबन्ध होना चाहिए, जो जिसके लिए इतना परिश्रम और खर्च उठाया जाता है वही उसका उपयोग भी कर सके।” महाराज को भी इस अभूतपूर्व बात के सुनने से बड़ा अचंभा हुआ। वे इस विनोद को देखने के लिए उसी समय अनेक प्रकार के सुन्दर और सुस्वादु पकवान अपने साथ लेकर शिव मन्दिर गए और आचार्य से बोले—योगिराज! सुना है कि आपमें कोई ऐसी शक्ति है, जिसके द्वारा शिवमूर्ति को भी आप खिला सकते हैं, तो क्या यह बात सत्य है? और सत्य है तो लीजिये यह भोजन उपस्थित है, इसे महादेव को खिलाइए ॥२०-३१॥

उत्तर में आचार्य ने ‘अच्छी बात है’ यह कहकर राजा के लाये हुए, सब पकवानों को मन्दिर के भीतर रखवा दिया और सब पुजारी पंडों को मन्दिर से बाहर निकालकर भीतर से आपने मन्दिर के किवाड़ बन्द कर लिए। इसके बाद लगे उसे आप उदरस्थ करने। आप भूखे तो खूब थे ही इसलिए थोड़ी ही देर में सब आहार को हजमकर आपने झट से मन्दिर का दरवाजा खोल दिया और निकलते ही नौकरों को आज्ञा की कि सब बरतन बाहर निकाल लो। महाराज इस आश्चर्य को देखकर भौचक्के से रह गए। वे राजमहल लौट गए। उन्होंने बहुत तर्क-वितर्क उठाये पर उनकी समझ में कुछ भी नहीं आया कि वास्तव में बात क्या है? ॥३२-३४॥

अब प्रतिदिन एक से एक बढ़कर पकवान आने लगे और आचार्य महाराज भी उनके द्वारा अपनी व्याधि नाश करने लगे। इस तरह पूरे छह महीना बीत गए। आचार्य का रोग भी नष्ट हो गया ॥३५॥

एक दिन आहार राशि को ज्यों की त्यों बची हुई देखकर पुजारी-पण्डों ने उनसे पूछा, योगिराज! यह क्या बात है? क्यों आज यह सब आहार यों ही पड़ा रहा? आचार्य ने उत्तर दिया—राजा की परम भक्ति से भगवान् बहुत खुश हुए, वे अब तृप्त हो गए हैं। पर इस उत्तर से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने जाकर आहार के बाकी बचे रहने का हाल राजा से कहा। सुनकर राजा ने कहा—अच्छा इस बात का पता लगाना चाहिए कि वह योगी मन्दिर के किवाड़ बंदकर भीतर क्या करता है? जब इस बात का

तेनोक्तं भूपतेर्भक्त्या सन्तृप्तो भगवानयम्। स्तोकमेवात्र भुंक्ते च तच्छ्रुत्वा ते जगुर्नृपम् ॥३८॥
तत्सर्वं भूपतिः सोपि शुष्कपुष्पादिवेष्टितम्। धृतं माणवकं तस्य चारित्रं वीक्षितुं तराम् ॥३९॥
तं प्रणालप्रदेशे च स्थापयामास मूढतः। द्वारं दत्वा तु योगीन्द्रं भुञ्जानं वीक्ष्य तत्स्वयम् ॥४०॥
छात्रो जगौ नृपस्याग्रे योगी भो देव किञ्चन। देवं न भोजयत्येव किन्तु भुङ्क्ते स्वयं पुनः ॥४१॥
तदाकर्ण्य नृपः प्राह कोपेन कलितस्तराम्। भो योगिस्त्वं मृषावादी न किञ्चिद्भोजनादिकम् ॥४२॥
देवं मे भोजयस्येव किन्तु दत्वा कपाटकम्। स्वयं त्वं भक्षयस्येव महान्धूर्ततरो भवान् ॥४३॥
नमस्कारं न देवस्य करोषीति कथं पुनः। तच्छ्रुत्वा योगिना प्रोक्तं देवस्ते सोढुमक्षमः ॥४४॥

ठीक-ठीक पता लग जाये तब उससे भोजन के बचे रहने का कारण पूछा जा सकता है और फिर उस पर विचार भी किया जा सकता है। बिना ठीक हाल जाने उससे कुछ पूछना ठीक नहीं जान पड़ता ॥३६-३८॥

एक दिन की बात है कि आचार्य कहीं गए हुए थे और पीछे से उन सब ने मिलकर एक चालाक लड़के को महादेव के अभिषेक जल के निकलने की नाली में छुपा दिया और उसे खूब फूल पत्तों से ढक दिया। वह वहाँ छिपकर आचार्य की गुप्त क्रिया देखने लगा ॥३९॥

सदा के माफिक आज भी खूब अच्छे-अच्छे पकवान आए। योगिराज ने उन्हें भीतर रखवाकर भीतर से मन्दिर का दरवाजा बन्द कर दिया और आप लगे भोजन करने। जब आपका पेट भर गया, तब किवाड़ खोलकर आप नौकरों से उस बचे सामान को उठा लेने के लिए कहना ही चाहते थे कि उनकी दृष्टि सामने ही खड़े हुए राजा और ब्राह्मणों पर पड़ी। आज एकाएक उन्हें वहाँ उपस्थित देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। ये झट से समझ गए कि आज अवश्य कुछ न कुछ दाल में काला है। इतने में ही वे ब्राह्मण उनसे पूछ बैठे कि योगिराज! क्या बात है, जो कई दिनों से बराबर आहार बचा रहता है? क्या शिवजी अब कुछ नहीं खाते? जान पड़ता है, वे अब खूब तृप्त हो गए हैं। इस पर आचार्य कुछ कहना ही चाहते थे कि वह धूर्त लड़का उन फूल पत्तों के नीचे से निकलकर महाराज के सामने आ खड़ा हुआ और बोला-राजा राजेश्वर! वे योगी तो यह कहते थे कि मैं शिवजी को भोजन कराता हूँ, पर इनका यह कहना बिल्कुल झूठा है। असल में ये शिवजी को भोजन न कराकर स्वयं ही खाते हैं। इन्हें खाते हुए मैंने अपनी आँखों से देखा है। योगिराज! सब की आँखों में आपने तो बड़ी बुद्धिमानी से धूल झोंकी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आप योगी नहीं, किन्तु एक बड़े भारी धूर्त हैं और महाराज! इनकी धूर्तता तो देखिये, जो शिवजी को हाथ जोड़ना तो दूर रहा उल्टा ये उनका अविनय करते हैं। इतने में वे ब्राह्मण भी बोल उठे, महाराज! जान पड़ता है यह शिवभक्त भी नहीं है। इसलिए इससे शिवजी को हाथ जोड़ने के लिए कहा जाये, तब सब पोल स्वयं खुल जायेगी। सब कुछ सुनकर महाराज ने आचार्य से कहा-अच्छा जो कुछ हुआ उस पर ध्यान न देकर हम यह जानना चाहते हैं कि तुम्हारा असल धर्म क्या है? इसलिए तुम शिवजी को नमस्कार करो। सुनकर भगवान् समन्तभद्र बोले-राजन्! मैं नमस्कार कर सकता हूँ, पर मेरा नमस्कार स्वीकार कर लेने को शिवजी समर्थ नहीं हैं।

अस्माकं सुनमस्कारं रागद्वेषमलीमसः। राजत्वं राजते नैव राजन्सामान्यके नरे ॥४५॥
 यस्त्वष्टादशदुर्दौर्घैर्निर्मुक्तो जिनभास्करः। केवलज्ञानसत्तेजोलोकालोकप्रकाशकः ॥४६॥
 अस्मदीयं नमस्कारं स सोढुं वर्तते क्षमः। तेनाहं न नमस्कारं करोम्यस्मै महीपते ॥४७॥
 यद्यस्मै तं करोम्युच्चैस्तदायं तव देवकः। स्फुटत्यैव तदाकर्ण्य नृपः प्राह सकौतुकः ॥४८॥
 स्फुटत्यसौ स्फुटत्यैव कुरु त्वं च नमस्कृतिम्। पश्यामस्ते नमस्कारसामर्थ्यं सकलं ध्रुवम् ॥४९॥
 ततो जगाद योगीन्द्रः प्रभाते भवतां पुनः। सामर्थ्यं दर्शयिष्यामि मदीयं भो महीपते ॥५०॥
 एवमस्त्वीति सम्प्रोक्त्वा राज्ञा तं योगिनं तदा। धृत्वा देवगृहे पश्चाद्बहिस्तु बहुयत्नतः ॥५१॥
 खड्गपाणिभटैर्गाढं हस्तिनां च घटादिभिः। संरक्षितस्तदा रात्रिप्रहरद्वितये गते ॥५२॥
 मयोक्तं रभसादिस्थं न विद्मः किं भविष्यति। इत्यादिचिन्तनोपेतः संस्मरज्जिनपादयोः ॥५३॥

कारण-वे राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया आदि विकारों से दूषित हैं। जिस प्रकार पृथ्वी के पालन का भार एक सामान्य मनुष्य नहीं उठा सकता, उसी प्रकार मेरी पवित्र और निर्दोष नमस्कृति को एक रागद्वेषादि विकारों से अपवित्र देव नहीं सह सकता, किन्तु जो क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि अठारह दोषों से रहित हैं, केवलज्ञानरूपी प्रचण्ड तेज का धारक हैं और लोकालोक का प्रकाशक हैं, वही जिनसूर्य मेरे नमस्कार के योग्य हैं और वही उसे सह भी सकता है। इसलिए मैं शिवजी को नमस्कार नहीं करूँगा इसके सिवा भी यदि आप आग्रह करेंगे तो आपको समझ लेना चाहिए कि इस शिवमूर्ति की कुशल नहीं है, यह तुरंत ही फट पड़ेगी। आचार्य की इस बात से राजा का विनोद और भी बढ़ गया। उन्होंने कहा-योगिराज! आप इसकी चिन्ता न करें, यह मूर्ति यदि फट पड़ेगी तो इसे फट जाने दीजिये, पर आपको तो नमस्कार करना ही पड़ेगा। राजा का बहुत ही आग्रह देख आचार्य ने 'तथास्तु' कहकर कहा, अच्छा तो कल प्रातःकाल ही मैं अपनी शक्ति का आपको परिचय कराऊँगा। 'अच्छी बात है, यह कहकर राजा ने आचार्य को मन्दिर में बन्द करवा दिया और मन्दिर के चारों ओर नंगी तलवार लिए सिपाहियों का पहरा लगवा दिया। इसके बाद "आचार्य की सावधानी के साथ देख-रेख की जाये, वे कहीं निकल न भागें" इस प्रकार पहरेदारों को खूब सावधान कर आप राजमहल लौट गए ॥४०-५२॥

आचार्य ने कहते समय तो कह डाला, पर अब उन्हें ख्याल आया कि मैंने यह ठीक नहीं किया। क्यों मैंने बिना कुछ सोचे-विचारे जल्दी से ऐसा कह डाला। यदि मेरे कहने के अनुसार शिवजी की मूर्ति न फटी तब मुझे कितना नीचा देखना पड़ेगा और उस समय राजा क्रोध में आकर न जाने क्या कर बैठे। खैर, उसकी भी कुछ परवाह नहीं, पर इससे धर्म की कितनी हँसी होगी। जिस परमात्मा की राजा के सामने मैं इतनी प्रशंसा कर चुका हूँ, उसे और मेरी झूठ को देखकर सर्व साधारण क्या विश्वास करेंगे आदि एक पर एक चिन्ता उनके हृदय में उठने लगी। पर अब हो भी क्या सकता था। आखिर उन्होंने यह सोचकर कि जो होना था वह तो हो चुका और जो कुछ बाकी है वह कल सबेरे हो जायेगा, अब व्यर्थ चिन्ता से ही लाभ क्या? जिनभगवान् की आराधना में अपने ध्यान को लगाया और बड़े पवित्र भावों से उनकी स्तुति करने लगे ॥५३॥

यावदास्ते स योगीन्द्रस्तावदासनकम्पनात्। अम्बिकाशु समागत्य जिनशासनदेवता ॥५४॥
तं जगाद प्रभो श्रीमज्जिनपादाब्जषट्पद। चिन्तां मा कुरु योगीन्द्र यत्प्रोक्तं भवता ध्रुवम् ॥५५॥
“स्वयंभुवाभूतहिते-नाभूतले” इति स्फुटम्। पदमाद्यं विधायोच्चैः कुर्वतः स्तुतिमुन्नताम् ॥५६॥
चतुर्विंशतितीर्थेशां शान्तिकोटिविधायिनाम्। भविष्यति द्रुतं सर्वं स्फुटिष्यति कुलिङ्गकम् ॥५७॥
इत्युक्त्वा सा गता देवी जिनभक्तिपरायणा। ततः समन्तभद्रोसौ देवतादर्शनान्तराम् ॥५८॥
सञ्जातपरमानन्दप्रोल्लसद्बदनाम्बुजः। चतुर्विंशतितीर्थेशां स्तुतिं कृत्वा सुखस्थितः ॥५९॥
प्रभाते च समागत्य राजा कौतुहलाद् द्रुतम्। समस्तलोकसन्दोहसंयुतेन महाधिया ॥६०॥
देवद्वारं समुद्घाट्य बहिराकारितो हि सः। आगच्छन्तं समालोक्य सम्मुखं हृष्टचेतसम् ॥६१॥
विकाशितमुखाम्भोजभास्करं वा महाद्युतिम्। ततश्चेतसि भूपेन चिन्तितं योगिनोधुना ॥६२॥
मूर्तिः सन्दृश्यते दिव्या ध्रुवं निर्वाहयिष्यति। आत्मीयं भाषितं चेति संविचार्यैव योगिराट् ॥६३॥
तेनोच्चैर्भणितः शीघ्रं भो योगीन्द्र कुरु ध्रुवम्। त्वं देवस्य नमस्कारं पश्यामो वयमद्भुतम् ॥६४॥
चतुर्विंशतितीर्थेशां योगीन्द्रेण महास्तुतिः। प्रारब्धा भक्तितः कर्तुं शर्मदा दिव्यभाषया ॥६५॥
तां कुर्वन्नष्टमश्रीमच्चन्द्रप्रभजिनेशिनः। तमस्तमोरिव रश्मिभिन्नमिति संस्तुतेः ॥६६॥

आचार्य की पवित्र भक्ति और श्रद्धा के प्रभाव से शासनदेवी का आसन कम्पित हुआ। वह उसी समय आचार्य के पास आई और उनसे बोली-हे जिन चरण कमलों के भ्रमर! हे प्रभो! आप किसी बात की चिन्ता न कीजिए। विश्वास रखिये कि जैसा आपने कहा है वह अवश्य ही होगा। आप स्वयंभुवाभूतहितेन भूतले इस पद्यांश को लेकर चतुर्विंशति तीर्थकरों का एक स्तवन रचियेगा। उसके प्रभाव से आपका कहा हुआ सत्य होगा और शिवमूर्ति भी फट पड़ेगी। इतना कहकर अम्बिका देवी अपने स्थान पर चली गई ॥५४-५८॥

आचार्य को देवी के दर्शन से बड़ी प्रसन्नता हुई उनके हृदय की चिन्ता मिटी, आनन्द ने अब उस पर अपना अधिकार किया। उन्होंने उसी समय देवी के कहे अनुसार एक बहुत सुन्दर जिनस्तवन बनाया। वह उसी समय से स्वयंभूस्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है ॥५९॥

रात सुखपूर्वक बीती। प्रातःकाल हुआ। राजा भी इसी समय वहाँ आ उपस्थित हुआ। उसके साथ और भी बहुत से अच्छे-अच्छे विद्वान् आए। अन्य साधारण जनसमूह भी बहुत इकट्ठा हो गया। राजा ने आचार्य को बाहर ले आने की आज्ञा दी। वे बाहर लाये गए। अपने सामने आते हुए आचार्य को खूब प्रसन्न और उनके मुँह को सूर्य के समान तेजस्वी देखकर राजा ने सोचा इनके मुँह पर तो चिन्ता के बदले स्वर्गीय तेज की छटाएँ छूट रही हैं, इससे जान पड़ता है ये अपनी प्रतिज्ञा अवश्य पूरी करेंगे। अस्तु। तब भी देखना चाहिए कि ये क्या करते हैं। इसके साथ ही उसने आचार्य से कहा-योगिराज! कीजिए नमस्कार, जिससे हम भी आपकी अद्भुत शक्ति का परिचय पा सकें ॥६०-६४॥

राजा की आज्ञा होते ही आचार्य ने संस्कृत भाषा में एक बहुत ही सुन्दर और अर्थपूर्ण जिनस्तवन आरम्भ किया। स्तवन रचते-रचते जहाँ उन्होंने चन्द्रप्रभ भगवान् की स्तुति का चन्द्रप्रभ चन्द्रमरीचिगौरम्

वाक्यं यावत्पठत्येवं स योगी निर्भयो महान्। तावत्तल्लिङ्गकं शीघ्रं स्फुटितं च ततस्तराम् ॥६७॥
 निर्गता श्रीजिनेन्द्रस्य प्रतिमा सुचतुर्मुखी। संजातः सर्वतस्तत्र जयकोलाहलो महान् ॥६८॥
 समुत्पन्ने महाश्चर्ये भूपादीनां ततो नृपः। जगौ योगीन्द्र भो कस्त्वं परमाश्चर्यकारकः ॥६९॥
 महासामर्थ्यसंयुक्तोऽव्यक्तलिङ्गीति तच्छ्रुतेः। स्फुटं काव्यद्वयं चेति योगीन्द्रः समुवाच सः ॥७०॥
 “काञ्च्यां नगनाटकोहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पांडुपिण्डः पुण्ड्रे शक्यभिक्षुर्दशपुरनगरे मृष्टभोजी परिव्राट्।
 वाणारस्यामभूवं शशधरधवलः पाण्डुराङ्गस्तपस्वी राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी॥
 पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता पञ्चान्मालवसिन्धुढक्क विषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
 प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटैर्विद्योत्कटैः सङ्कटं वादार्थी विचराम्यहं नरपतेः शार्दूलविक्रीडितम्॥”
 इत्युक्त्वा कुलघोषस्य त्यक्त्वा लिङ्गं कुलिङ्गिनः। जैननिर्ग्रन्थसल्लिङ्गं शिखिपिच्छसमन्वितम् ॥७१॥
 सन्धृतैकान्तिनः सर्वान्वादिनो दुर्मदान्वितान्। अनेकान्तप्रवादेन निर्जित्यैकहेलया ॥७२॥
 कृत्वा श्रीमज्जिनेन्द्राणां शासनस्य प्रभावनाम्। स्वमोक्षदायिनीं धीरो भावितीर्थङ्करो गुणी ॥७३॥

यह पद्यांश रचना शुरू किया कि उसी समय शिवमूर्ति फटी और उसमें से श्रीचन्द्रप्रभ भगवान् की चतुर्मुख प्रतिमा प्रकट हुई इस आश्चर्य के साथ ही जयध्वनि के मारे आकाश गूँज उठा। आचार्य के इस अप्रतिम प्रभाव को देखकर उपस्थित जनसमूह को दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ी। सबके सब आचार्य की ओर देखते के देखते ही रह गए। इसके बाद राजा ने आचार्य महाराज से कहा—योगिराज! आपकी शक्ति, आपका प्रभाव, आपका तेज देखकर हमारे आश्चर्य का कुछ ठिकाना नहीं रहता। बतलाइए तो आप हैं कौन? और आपने वेष तो शिवभक्त का धारण कर रखा है, पर आप शिवभक्त हैं नहीं। सुनकर आचार्य ने नीचे लिखे दो श्लोक पढ़े— ॥६५-७०॥

“मैं कांची में नग्न दिगम्बर साधु होकर रहा। इसके बाद शरीर में रोग हो जाने से पुंढ्र नगर में बुद्धभिक्षुक, दशपुर (मंदसौर) में मिष्टान्नभोजी परिव्राजक और बनारस में शैवसाधु बनकर रहा। राजन्, मैं जैन निर्ग्रन्थवादी स्याद्वादी हूँ। जिसकी शक्ति वाद करने की हो, वह मेरे सामने आकर वाद करे।”

पहले मैंने पाटलीपुत्र (पटना) में वादभेरी बजाई। इसके बाद मालवा, सिन्धुदेश, ढक्क (ढाका-बंगाल) कांचीपुर और विदिश नामक देश में भेरी बजाई। अब वहाँ से चलकर मैं बड़े-बड़े विद्वानों से भरे हुए इस करहाटक (कराड़जिला सतारा) में आया हूँ। राजन् शास्त्रार्थ करने की इच्छा से मैं सिंह के समान निर्भय होकर इधर-उधर घूमता ही रहता हूँ। यह कहकर ही समन्तभद्रस्वामी ने शैव वेष छोड़कर जिनमुनि का वेष धारण कर लिया, जिसमें साधु लोग जीवों की रक्षा के लिए हाथ में मोर की पिच्छिका रखते हैं ॥७१॥

इसके बाद उन्होंने शास्त्रार्थ कर बड़े-बड़े विद्वानों को, जिन्हें अपने पाण्डित्य का अभिमान था, अनेकान्त-स्याद्वाद के बल से पराजित किया और जैन शासन की खूब प्रभावना की, जो स्वर्ग और

समुद्योतितवान्सारं सम्यग्दर्शनमुत्तमम्। कुदेवस्य नमस्काराऽकरणात्कविसत्तमः ॥७४॥
 एकान्तवादिनां भङ्गात्सम्यग्ज्ञानं जिनेशिनः। स्वामी समन्तभद्राख्यो द्योतयामास शुद्धधीः ॥७५॥
 एवं दृष्ट्वा महाश्चर्यं लोकानां भूपतेस्तराम्। श्रद्धा श्रीमज्जिनेन्द्राणां शासने समभूतदा ॥७६॥
 शिवकोटिमहाराजो विवेकोत्कृष्टमानसः। चारित्रमोहनीयस्य क्षयोपशमहेतुना ॥७७॥
 महावैराग्यसम्पन्नो राज्यं त्यक्त्वा विचक्षणः। जैनीं दीक्षां समादाय शर्मदां गुरुभक्तितः ॥७८॥
 सकलश्रुतसन्दोहमधीत्य क्रमशः सुधीः। लोहाचार्यकृतां पूर्वा शुद्धात्माराधनां पराम् ॥७९॥
 सहस्रैश्चतुराशीत्या श्लोकैः संख्यामितां हिताम्। संक्षिप्य ग्रन्थतो मन्दमेधातुच्छायुषोर्वशात् ॥८०॥
 अर्थतश्चारिहे लिङ्ग इत्यादिभिरनुत्तरैः। चत्वारिंशन्महासूत्रैः सम्मूलाराधनां नवाम् ॥८१॥
 तृतीर्याद्धसहस्राप्तसंख्यां चक्रे जगद्धिताम्। सा-राधना मुनीन्द्रौ तौ शर्मदाः सन्तु मे सदा ॥८२॥
 सम्यग्दर्शनबोधवृत्तविलसद्रत्नाकरो निर्मलः कामोद्दामकरीन्द्रपञ्चवदनो विद्यादिनन्दी गुरुः।
 षट्कर्तागमजैनशास्त्रनिपुणः श्रीमूलसङ्घे श्रियं श्रीभट्टारकमल्लिभूषणगुरुः सूरिः श्रुताब्धिः क्रियात् ॥८३॥

इति सम्यग्दर्शनज्ञानोद्योतिनी श्रीसमन्तभद्रस्वामिनः कथा समाप्ता।

मोक्ष की देने वाली है। भगवान् समन्तभद्र भावी तीर्थंकर हैं। उन्होंने कुदेव को नमस्कार न कर सम्यग्दर्शन का खूब प्रकाश किया, सबके हृदय पर उसकी श्रेष्ठता अंकित कर दी। उन्होंने अनेक एकान्तवादियों को जीतकर सम्यग्ज्ञान का भी उद्योत किया ॥७२-७५॥

आश्चर्य में डालने वाली इस घटना को देखकर राजा की जैनधर्म पर बड़ी श्रद्धा हुई। विवेकबुद्धि ने उसके मन को खूब ऊँचा बना दिया और चारित्रमोहनीय कर्म का क्षयोपशम हो जाने से उसके हृदय में वैराग्य का प्रवाह बह निकला। उसने उसे सब राज्यभार छोड़ देने के लिए बाध्य किया। शिवकोटि ने क्षणभर में सब मायामोह के जाल को तोड़कर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। साधु बनकर उन्होंने गुरु के पास खूब शास्त्रों का अभ्यास किया। इसके बाद उन्होंने श्रीलोहाचार्य के बनाये हुए चौरासी हजार श्लोक प्रमाण आराधना ग्रन्थ को संक्षेप में लिखा। वह इसलिए कि अब दिन पर दिन मनुष्यों की आयु और बुद्धि घटती जाती है और वह ग्रन्थ बड़ा और गंभीर था, सर्व साधारण उससे लाभ नहीं उठा सकते थे। शिवकोटि मुनि के बनाये हुए ग्रन्थ के चवालीस अध्याय हैं और उसकी श्लोक संख्या साढ़े तीन हजार है। उससे संसार का बहुत उपकार हुआ ॥७६-८१॥

वह आराधना ग्रन्थ और समन्तभद्राचार्य तथा शिवकोटि मुनिराज मुझे सुख के देने वाले हों तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप परम रत्नों के समुद्र और कामरूपी प्रचंड बलवान् हाथी के नष्ट करने को सिंह समान विद्यानन्दि गुरु और छहों शास्त्रों के अपूर्व विद्वान् तथा श्रुतज्ञान के समुद्र श्रीमल्लिभूषण मुनि मुझे मोक्षश्री प्रदान करें ॥८२-८३॥

५. श्रीसञ्जयन्तमुनेः कथा

श्रीमज्जैनपदाम्भोजयुग्मं नत्वा सुखप्रदम्। सञ्जयन्तमुनेर्वच्यं सत्तपोद्योतने कथाम् ॥१॥
जम्बूद्वीपे महामेरोः पश्चिमास्थे विदेहके। विषये गन्धमालिन्यां वीतशोकपुरे ॥२॥
वैजयन्तो महाराजो भव्यश्री नाम तत्प्रिया। सञ्जयन्तजयन्ताख्यौ सञ्जातौ सुसुतौ तयोः ॥३॥
एकदा स महीनाथो विजयन्तोऽतिनिर्मलः। विद्युत्पातेन संवीक्ष्य मरणं पट्टहस्तिनः ॥४॥
महावैराग्यसम्पन्नो पुत्राभ्यां राज्यसम्पदम्। ददानो भणितस्ताभ्यां भो पितश्चेदिदं शुभम् ॥५॥
कथं सन्त्यज्यते राज्यं युष्माभिः सुविक्षणैः। आवाभ्यां न ततस्तात राज्यं तद्गृह्यते सुधीः ॥६॥
ततो राज्यं बुधैस्त्याज्यं सञ्जयन्तसुताय च। वैजयन्ताय दत्वेति गृहीतं सुतपस्त्रिभिः ॥७॥
विशिष्टं स तपः कुर्वन्पिता सद्भयानवह्निना। घातिकर्मन्धनं दग्ध्वा प्राप्तवान्केवलश्रियम् ॥८॥
केवलज्ञानपूजार्थं सञ्जाते मरुदागमे। मुनिर्जयन्तनामासौ संविलोक्य तदा लघुः ॥९॥

५. संजयन्त मुनि की कथा

सुख के देने वाले श्री जिन भगवान् के चरण कमलों को नमस्कार कर श्रीसंजयन्त मुनिराज की कथा लिखता हूँ, जिन्होंने सम्यक् तप का उद्योत किया था। सुमेरु के पश्चिम की ओर विदेह के अन्तर्गत गन्धमालिनी नाम का देश है। उसकी प्रधान राजधानी वीतशोकपुर है। जिस समय की बात हम लिख रहे हैं, उस समय उसके राजा वैजयन्त थे। उनकी महारानी का नाम भव्यश्री था। उनके दो पुत्र थे। उनके नाम थे संजयन्त और जयन्त ॥१-५॥

एक दिन की बात है कि बिजली के गिरने से महाराज वैजयन्त का प्रधान हाथी मर गया। यह देख उन्हें संसार से बड़ा वैराग्य हुआ। उन्होंने राज्य छोड़ने का निश्चय कर अपने दोनों पुत्रों को बुलाया और उन्हें राज्य भार सौंपना चाहा; तब दोनों भाईयों ने उनसे कहा—पिताजी, राज्य तो संसार के बढ़ाने का कारण है, इससे तो उल्टा हमें सुख की जगह दुःख भोगना पड़ेगा। इसलिए हम तो इसे नहीं लेते। आप भी तो इसीलिए छोड़ते हैं न ? कि यह बुरा है, पाप का कारण है। इसीलिए हमारा तो विश्वास है कि बुद्धिमानों को, आत्म हित के चाहने वालों को, राज्य सरीखी झंझटों को शिर पर उठाकर अपनी स्वाभाविक शान्ति को नष्ट नहीं करना चाहिए। यही विचार कर हम राज्य लेना उचित नहीं समझते। बल्कि हम तो आपके साथ ही साधु बनकर अपना आत्महित करेंगे ॥६॥

वैजयन्त ने पुत्रों पर अधिक दबाव न डालकर उनकी इच्छा के अनुसार उन्हें साधु बनने की आज्ञा दे दी और राज्य का भार संजयन्त के पुत्र वैजयन्त को देकर स्वयं भी तपस्वी बन गये। साथ ही वे दोनों भाई भी साधु हो गये ॥७॥

तपस्वी बनकर वैजयन्त मुनिराज खूब तपश्चर्या करने लगे, कठिन से कठिन परीषह सहन करके अन्त में ध्यानरूपी अग्नि से घातिया कर्मों का नाश कर उन्होंने लोकालोक का प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया। उस समय उनके ज्ञानकल्याणक की पूजा करने को स्वर्ग से देव आये। उनके स्वर्गीय ऐश्वर्य और उनकी दिव्य सुन्दरता को देखकर संजयन्त के छोटे भाई जयन्त ने निदान किया—